सत्यांश

रहना नहीं देश बेगाना है

पिछले कुछ समय से विदेशों में बसे भारतीयों पर एक के बाद एक कई हमले हुए हैं, तो दूसरी तरफ भारत आने वाले विदेशियों पर हो रहे अपराध भी कम नहीं हो रहे। ऐसे समय कबीर के नाम से मशहूर और दर्जनों आधुनिक गायकों द्वारा अलग-अलग ढंग से गाए जाने वाले गीति-पद 'रहना नहीं देश बिराना है' की प्रासंगिकता कुछ अलग नजर आने लगी है। मन-मस्तिष्क में पैठा इसका विराट भाव-गांभीर्य अब सिमटता लगता है। पद-भजन तो वही है और गायक भी पहले की भाँति स्वर, ताल, लय के साथ गाकर समाँ बाँधते हैं। यह ठीक है कि कई बार संगीत पर अधिक जोर रहने से आत्मिक लयात्मकता क्षरित होती है, पर किसी भी हालत में आंतरिक संप्रेषणीयता के बिना उत्तम गायन संभव नहीं है। अस्तु, कबीर का अभिप्राय संसार की क्षुद्रता व निस्सारता को उजागर कर जीवन के वास्तविक ध्येय से लोगों को परिचित कराना था, लेकिन वहाँ देश का मतलब आजकल के भौगोलिक देश जैसा नहीं था, बल्कि वह समूचे मायावी संसार का सूचक था- ''रहना नहीं देश बिराना है।/यह संसार कागद की पुरिया बूंद परे घुल जाना है,/यह संसार झाड़ और झांखड़ आगि लगे जलि जाना है।''

दूसरी ओर, सूरदास के यहाँ देश का मतलब आजकल के देश जैसा ही है। कृष्णप्रेमी जीवात्माएँ, गोपियाँ उद्धव से निर्गुण ब्रह्म के देश का नाम जानना चाहती हैं -'निरगुन कौन देश कौ बासी। /मधुकर कहि समुझाई सौंह दै बूझति साँच न हाँसी।'

बहरहाल, चाहे विदेशों में भारतीयों पर हिंसा की घटनाएँ हों या फिर भारत में विदेशियों पर हमले, ज्यादातर मामलों को नस्लीय हिंया की तरह उछाला जाता है। कुछ जगह यह वास्तव में नस्लीय हिंसा ही होती है, लेकिन आपराधिक प्रवृत्ति की बहुस्तरीय किस्मों का उभार एक सार्वभौमिक समस्या है। विश्व भर में ऐसी ताकतें सत्तासीन हो रही हैं, जो सांप्रदायिक, जातीय, राष्ट्रीय उग्रता को हवा देती हैं, उन्हें अपने पक्ष में भुनाती हैं। लगभग सभी देशों में प्रवासी कामगारों, मजदूरों, विद्यार्थियों, व्यावसायियों पर किस्म-किस्म जुल्म ढाए जाते रहे हैं। उन्हें बंधक बनाकर रखने, काम कराके पारिश्रमिक न देने और यातनाएँ देने का इतिहास - इतिहास जितना ही पुराना है। वर्तमान में मीडिया की सुर्खियों में आने के बाद कुछ घटनाएँ सरकार व समाज को सक्रिय करने में सफल रही हैं, हालाँकि ऐसे मामलों में मीडिया की चुप्पी पर भी सवाल उठते रहे हैं। विदेशी पर्यटकों को शिकार बनाने के मामले में भारत का रिकार्ड भी ठीक नहीं है; अफ्रीकी, यूरोपीय, अमेरिकी, उज्बेकिस्तानी लोगों के साथ यौनाचार से लेकर लूटपाट व कत्ल तक की वारदातें हुई हैं और इन्हें उचित ठहराने का आख्यान मीडिया से लेकर जुबानी जंग-मैदान तक में भरे पड़े मिलते हैं। विदेशों में भी 'हमारे देश को छोड़कर अपने देश को जाओ' कहकर भारतीयों पर हमला करने वालों के अतिरिक्त

भी वहाँ हमलों का औचित्य सिद्ध करने वाले होंगे ही।

केवल अतिथि-मेहमान या घरेलू हो जाने के कारण प्रवासी भी निर्दोष नहीं हो जाते। भारत में बहुत सारे विदेशी तरह-तरह के अपराधों जैसे ड्रग रैकेट से लेकर सेक्स रैकेट तक तथा खुफिया सूचनाएँ एकत्र करने से लेकर जघन्य वारदात को अंजाम देने तक में संलिप्त पाए गए हैं, बेशक हरएक अपराध यहाँ के लोगों की मदद से ही होता है। सवाल यह भी है कि क्या अपने देश में अपने नागरिकों पर जुल्म नहीं ढाए जाते, नागरिक खुद जुल्म नहीं करते? हाल में संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकार शाखा ने भारत को उत्पीड़ितों, दमितों, अल्पसंख्यकों और महिलाओं के खिलाफ हिंसा रोकने की सलाह दी है। ऐसे परामर्श की जरूरत पड़ती है, क्योंकि अपने पर नियंत्रण रखना कठिन है, जबकि उपदेश देना आसान है -'पर उपदेश कुशल बहुतेरे।' इसलिए अपने नागरिकों की असुरक्षा व उत्पीड़न के मामले में संसद, सरकार चाहे चुप रह जाए, पर वह विदेशों में रह रहे अपने देश के लोगों पर सुर्खियों में आए अत्याचार के मामले में पीछे नहीं रह सकती; लेकिन ऐसे सभी अपराधों को नस्लीय हिंसा का रूप देना ठीक नहीं। निस्संदेह नस्ल, जाति, क्षेत्र के कारण घटित न होने वाला अपराध भी कहीं न कहीं इनसे जुड़ अवश्य सकता है, पर जोड़ना सदैव उचित नहीं। अज्ञेय जी के शब्दों में -

अपनी पहली साँस और चीख के साथ
हम जिस जीवन के
पक्षधर बने अनजाने ही,
आज होकर सयाने
उसे हम वरते हैं :
इतने घने
कि उसी को जीने और जिलाने के लिए
स्वेच्छा से मरते हैं।

किसी समाज में जिस समुदाय, नस्ल, जाति, संप्रदाय की जितनी आबादी है, कुल हुए अपराधों में लगभग उसी औसत अनुपात में उनका अपराध करना और पीड़ित होना लाजिमी है, हालाँकि यह जरूरी नहीं है। कुछएक समाज के लोग परंपरागत तौर पर, तो कुछ नये उभार के साथ अपेक्षाकृत अधिक अपराध करते हैं, वहीं कुछ लोग अपराधों में अपेक्षाकृत कम लिप्त रहते हैं, परंतु अपराधों की बढ़ोतरी होने की दशा में सबका अंशदान झलकता ही है। किसी समुदाय में उसकी आबादी के औसत प्रतिशत से बहुत अधिक पीड़ितों या अपराधियों की उपस्थिति उस समुदाय के लिए ही नहीं, पूरे देश-समाज के लिए खतरे की आहट है। समग्रतः सद्प्रवृत्तियों से संयुक्त आदमीयत का लगातार ह्रास और संकीर्ण, हिंसक, क्रूर होता जा रहा मानस-माहौल असली समस्या है, अन्यथा क्या देश और क्या विदेश, अपने लक्ष्य व परहित के लिए मरना महोत्सव जैसा होता है, जो अब देहदान की तकनीक व प्रचलन से और अधिक सार्थक हो गया है -

मरना भला विदेश में जहाँ न आपन कोय।
माटी खाय जानवरा महा महोत्सव होय।।

बहुतों को अपना देश भी विदेश जैसा लगता है, तो कइयों को विदेश अपने देश जैसा नसीब होता है। कबीर की दृष्टि से भी देश और विदेश में कोई फर्क नहीं है। थोड़े-बहुत स्थूल अंतर के साथ दोनों ही नश्वरता और असत्यता भेदक्षेत्र हैं और अंततः बेगानापन और वीरानगी इनकी स्थायी पहचान है।